Purva Mimaansa
A Multi-discipinary Bi-annual Research Journal
(Double Blind Peer Reviewed)

Vol. 9 No. 1-2, March-Sep. 2018
ISSN : 0976-0237
UGC Approved Journal No. 40903

मानवाधिकार की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एवं उसके वैदिक सन्दर्भ

अनिल कुमार

शोध–सारांश

प्रस्तुत शोधपत्र में मानवाधिकार के भारतीय परम्परागत दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया गया है। वेदों में समुन्नत सामाजिक जीवन के विभिन्न आदर्श और यथार्थ का व्यापक सन्निवेश है, जिसमें आदर्श और यथार्थ के मध्य सामीप्य स्थापित करने का प्रयास दिखाई पड़ता है। विश्व साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ वैदिक संहिताओं में यद्यपि मानवाधिकार शब्द का प्रयोग नहीं मिलता तथापि नैतिक मूल्यों के सन्दर्भ में अधिकारों और कर्त्तव्यों की व्यापक चर्चा विहित है। वेदों का आश्रय लेकर ही बाद के स्मृत्यादि शास्त्रकारों ने मानवीय अधिकारों को प्रकाश में लाया। समाज प्रायः अधिकार और कर्त्तव्यों के सिद्धान्त पर ही कार्य करता है। एक आदर्श समाज में दोनों में समन्वय अत्यन्त आवश्यक होता है। प्रस्तुत शोधपत्र भारतीय प्राचीन साहित्यों में उपलब्ध मानवाधिकारों के मौलिक स्वरूप का उद्‌घाटन करता है जिसमें विश्वबन्धुत्व, आत्मवद्‌भाव, सत्कार और पारास्परिक सहयोग की भावना का सन्निवेश है। इसमें प्रायः विवरणात्मक शैली का प्रयोग किया गया है।

कूट–शब्द : वेद, मानव, अधिकार, मानवाधिकार,मनुः, समाज।

आधुनिक समाजमें प्राचीन भारतीय साहित्य से सम्बन्धित विभिन्न भ्रान्त अवधारणाएँ व्याप्त हैं। सामाजिक विषमताओं का मूल कारण प्राचीन साहित्य को ही माना जा रहा है, जो सर्वथा उचित नहीं है। वेदादि प्राचीन ग्रन्थों में सामाजिक जीवन के आधारभूत स्तम्भों अधिकार और कर्त्तव्यों का अपूर्व समन्वय दिखाई पड़ता है। इनमें प्रत्येक जीव को आत्मवत्‌रूप में देखा गया है। आधुनिक सामाजिक विषमताओं के लिए स्वार्थी व्यक्तित्त्व उत्तरदायी है, न कि प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थ।प्राचीन ग्रन्थों में तो सार्वभौमिक मानवीय नैतिक उत्कर्षों का विस्तृत विवेचन किया गया है। विवेचना के उसी प्रसङ्ग में जीवमात्र के अधिकार और कर्त्तव्यों का भी सन्निवेश है। आधुनिक युग में मानवाधिकार को पूर्णतः एक नवीन अवधारणा के रूप में देखा जाता है, जबकि वेदादि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में मानवाधिकार की अवधारणा का व्यापक रूप चिन्तन उपलब्ध होता है। यहाँ सृष्टि के कण–कण में चेतना का स्वरूप मानकर उनसे आत्मवत् व्यवहार का प्रतिपादन किया गया है। अतः प्रस्तुत शोध–पत्र में वैदिक दृष्टिकोण के आधार पर उपरोक्त सभी समस्याओं के निराकरण का प्रयास किया गया है।

समाज मानव जीवन का एक अभिन्न अङ्ग है। इसको परिभाषित करते हुए कोषकार लिखते हैं कि– 'समाजोथ सधर्मिणाम्।[1]अर्थात् समान धर्मावलम्बी लोगों का समूह समाज

शोधछात्र, संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय नई दिल्ली–११००६७

Vol. 9 No. 1-2, March-Sep. 2018
ISSN : 0976-0237
UGC Approved Journal No. 40903

कहलाता है। मानव–समाज अर्थात् मानवत्व धर्मावच्छिन्न एक समुदायविशेष। प्राचीन काल से ही अधिकार और कर्त्तव्य भारतीय समाज में सामाजिक जीवन के दो आधार स्तम्भ माने जाते रहे हैं। इनके अभाव में समाज की कल्पना असम्भव–सी प्रतीत होती है। समाज का सातत्य अधिकार और कर्तव्यों के सन्निवहन से ही सम्भव है। सामाजिक जीवन की ये दोनों ही संकल्पनाएँ परस्पर सम्पूरक हैं। इन्हीं के आधार पर समाज की दिशा और दशा निर्धारित होती है। जिस समाज में इनका परिपालन समुचित प्रकार से किया जाता है वह समाज उतना ही समुन्नत होता है और जहाँ इनके पालन में अनिश्चितता होती है वह समाज उतना ही असन्तुष्ट और संवेदनाविहीन हो जाता है। मानवाधिकार एक ऐसा अधिकार है जो जनसामान्य के लिए समान रूप से प्राप्त होता है। इसको ही मौलिक अधिकार कहा गया है। मानवाधिकार एक ऐसा विषय है जिसको लेकर आज समस्त जगत् अपने–अपने तरीके से कार्यरत है। यद्यपि मानवाधिकार शब्द नवीन है तथापि सैद्धान्तिक रूप से इसकी अवधारणा मानव सभ्यता के आरम्भिक काल से ही विद्यमान दिखाई पड़ती है। अथर्ववेद मानवीय सभ्यता के प्राचीनतम ग्रन्थों में से एक है जिसका परिगणन वेद के अन्तर्गत किया गया है मानवाधिकार सम्बन्धी वैदिक अवधारणा का सम्यक् प्रकाशन करता है। मानवाधिकार का वैदिक स्वरूप विश्व के समक्ष एक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करेगा। प्रस्तुत शोधपत्र जहाँ एक तरफ वैदिक आचार सम्बन्धी भ्रान्त अवधारणा को समाप्त करने में सहायक होगा, वहीं दूसरी ओर मानवाधिकार की अवधारणा का सार्वभौमिक दृष्टि भी प्रस्तुत करेगा। आधुनिक समाज में मानवाधिकार की अवधारणा को पश्चिमी देशों की देन माना जाता है, परन्तु उक्त तथ्य सत्य नहीं है। मानवाधिकार शब्द सर्वथा नवीन है परन्तु अवधारणा प्राचीन समय से चली आ रही है। भारतीय प्राचीन संस्कृति में मानवाधिकार की अवधारणा का व्यापक सन्निवेश है। अतःमानवाधिकारों की वेदमूलकता की सिद्धि भी शोधकर्ता का उद्देश्य होगा।

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति है जिसमें मानवीय गरिमा के सार्वभौमिक अन्तस्तत्त्व सन्निहित हैं। यह तथ्य विश्वविख्यात है कि प्राचीन समय में भारत विश्वगुरु के नाम से विश्वविख्यात था। लोग दूर–देश से आकर यहाँ धर्माचरण का पाठ पढते थे। धर्म और मानवता एक–दूसरे के सम्पूरक हैं। मानवता का धर्म से साक्षात् सम्बन्ध है। प्राचीन समय में धर्म ही सबका शासक होता था। धर्म को कर्त्तव्य के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। समाज में सभी व्यक्ति के एक–दूसरे के प्रति कुछ न कुछ कर्त्तव्य होते हैं । इन कर्त्तव्यों का निर्धारण वेदादि धर्मशास्त्रों के आधार पर किया जाता था। जिससे अभ्युदय (लौकिक उत्थान) और निःश्रेयस (पारलौकिक उत्थान) की सिद्धि हो वही धर्म है।[2]इनकी प्राप्ति के लिये वेदादि शास्त्रों में जिन मार्गों का निर्देशन है मानवता उनका एक अङ्ग है। यम[3] तथा नियमों[4] का पालन धर्माचरण का मुख्य आधार है। जिसमें अहिंसा प्राथम्य रूप में परिगणित है। वैदिक साहित्य संसार के सभी जीवों में अपने–आप का तथा अपने में सभी का दर्शन करने की शिक्षा देते हैं। इसकी शिक्षाओं में समत्व की भावना को ही योग कहा गया है।[5]योग विद्यार्थी जीवन का एक अभिन्न अङ्ग था। योगादि के माध्यम से व्यक्ति समत्व की भावना का विकास करता है।"यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्", तथा "वसुधैव कुटुम्बकम्" का पाठ पढाने वाले वेद वैश्विक जगत् की प्राचीनतम निधि एवं भारतीय ज्ञानपरम्परा के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। भारतीय परम्परा इन्हें सभी ज्ञानराशियों का आदि स्त्रोत मानती है।[6]इनमें मानवीय कर्त्तव्यों के साथ–साथ उनके अधिकारों का भी सङ्केत उपलब्ध होते हैं। इनमें

Vol. 9 No. 1-2, March-Sep. 2018
ISSN : 0976-0237
UGC Approved Journal No. 40903

पारलौकिक विषयों के साथ–साथ इहलौकिक विषयों पर भी विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इहलौकिक विषयों के सन्दर्भ में मानवीय मूल्यों तथा मानवाधिकारों की व्यापक चर्चा है। वेद प्रायः कर्त्तव्य मूलक अधिकारों का प्रबल समर्थक है। वेद उन्हीं अधिकारों की बात करता है जिनके मूल में कर्त्तव्य निहित होते हैं । तत्पश्चात् उपनिषद्, महाभारत आदि ग्रन्थों में इनका विस्तृत विवेचन मिलता है।

'मानवाधिकार' शब्द मूलतः Human Right का अनुदित रूप है। यह दो शब्दों क्रमशः Human और Right से मिलकर बना है। जिसमें Human का अर्थ मानव और Right का अर्थहै अधिकार ।इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम रूजवेल्ट ने सन् 1841 ई० में किया था, जिसके अन्तर्गत उन्होंने चार मूलभूत स्वतन्त्रताओं की घोषणा की थी क्रमशः 1. अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता 2. धर्म की स्वतन्त्रता 3. गरीबी से मुक्ति तथा 4. भय से मुक्ति।[7] आज मानवाधिकार को लेकर सारा विश्व सजग है। विश्व में न्याय और शांति तभी स्थापित हो सकती है, जब सभी लोगों की मानवीय गरिमा का आदर किया जाएगा।आज मानवाधिकार की अवधारणा को भारतीय दृष्टिकोण के व्यापक फलक पर रखकर देखने की आवश्यकता है। आज आवश्यकता है व्यक्ति को समग्रता के आलोक में देखने की। यह मानवाधिकार शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है मानव+अधिकार = मानवाधिकार। मानव, मनुष्य, व्यक्ति प्रायः समानार्थी हैं। मानवाधिकार एक सामासिक पद है। मानवानां अधिकारः मानवाधिकारः (षष्ठी तत्पुरुष)। मानव को परिभाषित करने का प्रचलन प्राचीन साहित्यों से ही चला आ रहा है। इसकी व्युत्पत्ति दर्शाते हुये संस्कृत वाङ्गमय में तीन मत प्रचलित हैं।

1. मननात् मनुष्यः। अर्थात् चिन्तन, मनन करने वाला प्राणी मनुष्य है। जो जीव चिन्तन, मननपूर्वक अपने कार्यों में प्रवृत्त होता है वही मनुष्य या मानव है।

2. मत्वा कर्माणि सीव्यतीति मनुष्यः। जो मनन पूर्वक कर्मोंका वितान करता है अर्थात् कर्मों में प्रवृत्त होता है वह मनुष्य है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या मननशील होना मनुष्य का विशेष गुण है जो अन्य किसी जीव में नहीं पाया जाता?क्या अन्य जीव बिना सोचे–विचारे ही कार्यों में प्रवृत्त होते हैं?शोधकर्ता की दृष्टि में मनुष्य के उपर्युक्त लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है। क्योंकि मननशीलता प्रायः सभी जीवों में पायी जाती है किसी में उसकी मात्रा कम होती है और किसी में अधिक। यद्यपि मनुष्यों में मननशीलता का स्तर सबसे अधिक उन्नत है तथापि यह मनुष्य का लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि अन्य जीवों में भी पाया जाता है। लोकव्यवहार में गोरिल्ला, बन्दर, गाय, घोडे आदि में भी विचार शक्ति का स्पष्ट दर्शन होता है। कोई भी जीव बिना विचारे कोई कार्य नहीं करता। हाँ प्रत्येक के पैमाने अलग–अलग होते हैं। हम शायद अपने पैमाने में उनके विचार को मापने का प्रयास करते हैं इसलिये उनका विचार हमारे लिये नगण्य–सा प्रतीत होता है। भक्ष्याभक्ष्यादि में सभी जीव विचारपूर्वक ही प्रवृत्त होते दिखाई पडते हैं।

3. मनोरपत्यं पुमानिति। अर्थात् मनु के अपत्य(सन्तान) को मानव कहा गया है। इस परिभाषा के आधार पर मनु की सभी सन्तानें जन्मजात मनुष्य हैं। यदि इस परिभाषा को सर्वसम्मत मान लिया जाये तो ऋग्वेद के मनुर्भव का सिद्धान्त अनर्थक सिद्ध हो जायेगा, जिसमें सभी को मनुष्य बनने का आदेश दिया गया है, जो किसी प्रकार से स्वीकार्य नहीं है। यदि सभी व्यक्ति जन्मतः ही

Vol. 9 No. 1-2, March-Sep. 2018
ISSN : 0976-0237
UGC Approved Journal No. 40903

मनुष्य हैं तो पुनः उनको मनुष्य बनने की क्या आवश्यकता?यदि इन प्रश्नों पर विचार किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु का आपत्य होना ही मानव का लक्षण नहीं है अपितु कुछ विशिष्ट गुणोपेत होने के आधार पर ही व्यक्ति को मानव कहा जा सकता है। मानव बनने की कोटियाँ कौन सी हैं यह अत्यन्त विचारणीय प्रश्न है। मानव का लक्षण देते हुये आचार्यों ने कहा है कि–

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनः पशुभिस्समानः।।[8]

अर्थात् उसी व्यक्ति को मानव कहा जा सकता है जो धर्म से युक्त हो अर्थात् जिसका आचरण धर्मपूर्वक हो वही मानव कहलाने का अधिकारी है। यद्यपि आचार्यों ने धर्म की विभिन्न परिभाषायें दी हैं तथापि यहाँ धर्म का तात्पर्य कर्त्तव्य से है। प्रत्येक व्यक्ति के अपने–अपने समाज के प्रति, परिवार के प्रति, प्राणीमात्र के प्रति कुछ कर्त्तव्य होते हैं, जो व्यक्ति इन कर्त्तव्यों का ठीक प्रकार से निर्वहन करता है वही मानव कहने का अधिकारी है। कर्त्तव्यों का निर्धारण वेदादि सत्य शास्त्रों के द्वारा किया जाता है। अतः वही व्यक्ति अधिकारों के योग्य है जो ठीक प्रकार से अपने कर्त्तव्यों का पालन करता हो। इस प्रकार उपर्युक्त सभी परिभाषाओं को मिलाकर मानव की एक सटीक परिभाषा दी जा सकती है– मनु का अपत्य होने के साथ–साथ जिसमें मननशीलता तथा कर्त्तव्यो निष्ठता का सम्यक् सन्निवेश हो वही मानव कहलाने का अधिकारी है।

'अधिक्रियते इति अधिकारः' अर्थात् जो अधिकृत हो वह अधिकार है। अधिकार शब्द 'अधि' उपसर्गपूर्वक कृ धातु से कर्मार्थक 'घञ्' प्रत्यय से सिद्ध होता है जिसका अर्थ होता है अधीन करना या स्वामित्व होना। इस प्रकार अधिकार शब्द स्वामित्व का बोधक है। 'अधि' उपसर्ग प्रायः अधिकरण अर्थ में प्रयुक्त होता है तथा कृ धातु करने के अर्थ को द्योतित करता है तथा 'घञ्' प्रत्यय कर्मार्थक है। इस प्रकार अधिकार शब्द का अर्थ हुआ कर्मीभूत किसी द्रव्य, सत्ता,नियम आदि को अपने में धारण करना। अतः मनुष्यों का अधिकार मानवाधिकार है।

प्रत्येक समाज का संचालन कुछ नैतिक मापदण्डों पर होता है, समाज की निरतंरता बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि इन नैतिक मूल्यों का पालन किया जाए। मानवाधिकार का विचार उतना ही पुराना है जितनी कि मानवीय सभ्यता न्यायमूर्ति भगवती कहते हैं कि– "ये मूल अधिकार वैदिक काल से इस देश के लोगों द्वारा संजोए आधार भूत मूल्यों का निरूपण करते हैं और व्यक्ति की गरिमा की रक्षा करने तथा ऐसी दशाएँ उत्पन्न करने के लिए उपयुक्त हैं, जिनमें प्रत्येक मानव अपने व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास कर सकता है।"[9] वास्तव में मानवाधिकार की आधुनिक परिभाषा क्या है?इसके विषय में कुछ विद्वानों के विशिष्ट मत हैं जिनका अवलोकन अनिवार्य है। हैराल्ड जे. लास्की का मानना है कि "अधिकार मानव के सामाजिक जीवन की ऐसी शर्तें हैं, जिनके बिना कोई व्यक्ति अथवा मानव सामान्यतः अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता।"[10] प्रो. हाब हाउस कहते हैं कि "मानवाधिकार वह है, जिसमें हम दूसरों से कुछ आशाएँ करते हैं तथा दूसरे भी हमसे कुछ आशाएँ करते हैं। इस आशा के वातावरण में सभी सार्थक अधिकार समाज कल्याण की शर्तें होती हैं। इस प्रकार मानवाधिकार वह है जिसका दावा प्रत्येक व्यक्ति आवश्यक कार्यों की पूर्ति के लिये करता है, ऐसे दावों की समाज आशा करता है।"[11]इसी प्रकार मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम, की धारा 2 (1) (घ), मानव अधिकारों को "संविधान द्वारा प्रत्याभूत या अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदाओं[12] में सम्मिलित और भारत के न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय,

Vol. 9 No. 1-2, March-Sep. 2018
ISSN : 0976-0237
UGC Approved Journal No. 40903

व्यक्ति के जीवन, आजादी, समानता और गरिमा से सम्बन्धित अधिकारों के रूप में परिभाषित करती है।"[13]इस प्रकार भारतीय संविधान के अनुसार जीवन की वे दशाएं जो मानव को विधिसम्मत कार्यों के सम्पादन की पूर्ण स्वतन्त्रता दें, मानवाधिकार कहलाती हैं। भारतीय संस्कृति में मानवता का अनुपालन सभी मनुष्यों का प्रधान कर्त्तव्य बताया गया है। जिसमें अहिंसा, प्रेम, दया, करुणा, सेवा, अस्तेय, पारस्परिक सहयोग आदि का समायोजन है। अनधिकृत चेष्टा न करना भी मानवता का एक अभिन्न अङ्ग है। मानवता एक ऐसा धर्म है है जो प्रत्येक मनुष्य में होनी चाहिये। इसके अभाव में मनुष्य बिना सींग और पूँछ का पशु बन जाता है।[14]वेदों मे सभी को मनुष्य बनने का सन्देश दिया गया है [15]अर्थात् सभी मनुष्यों को मानवोचित गुणों प्रेम, सौहार्द्र, करुणा आदि से सम्पन्न होना चाहिए। पारस्परिक संरक्षण में सभी लोग सर्वथा उद्यत रहें।[16]वेद सभी प्राणियों को अपने जैसा(आत्मवत्) समझने के लिये प्रेरित करता हैं[17],तथा इसी बात को आगे बढाते हुये पद्मपुराण में कहा गया है कि– "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।"[18]अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को दूसरों के साथ वह व्यवहार नहीं करना चाहिये जो उसे अपने लिए अपेक्षित न हो। यह मानवाधिकार की सर्वोत्कृष्ट परिभाषा है।

प्राचीन भारत में यदि हम मानवाधिकार की बात करें तो प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में "मनुर्भव"[19]कहकर सभी मनुष्यों को सदा मनुष्य बनने का तथा "पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः"[20]कहकर सभी मनुष्यों को एक–दूसरे की रक्षा का उपदेश दिया गया है। यह मानवाधिकार का ही प्रारूप है। यह वेद समाज में पारस्परिक समरसता हेतु विभिन्न प्रकार के आयामों का निर्देश करता है। समाज में सभी को साथ–साथ समान रूप से उन्नति करने का अधिकार है। [21]ऋग्वेद में समानता के अधिकार को बहुत सुचारु ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसका सम्पूर्ण सांमनस् सूक्त(10/91/4) समानता की ही बात करता है। ऋग्वेद की दृष्टि में सभी मनुष्य जन्मजात समान होते हैं। सभी के मन समान रहते हैं, सभी के चित्त समान रहते हैं, सभी की समिति समान होती है। इसलिये सभी समान रूप से विचार विमर्श करें। सृष्टिनियामक सभी को समान रूप से कार्यों में प्रवृत्त करता है।[22]सभी के पानी भरने का स्थान समान हो, सभी के हृदय में किसी के प्रति विद्वेष आदि का भाव नहीं होना चाहिये अपितु सबके प्रति समानता का भाव होना चाहिये।[23]समाज में किसी प्रकार का ऊँच–नीच का भाव नहीं होना चाहिये।[24] अन्य प्राणियों की चिन्ता किये बिना जो व्यक्ति अकेला भोजन करता है वह पाप का भागी बनता है।[25]तभी यजुर्वेद त्यागपूर्वक उपभोग का आदेश देता है।[26]इस प्रकार ऋग्वेद में अनेकों ऐसे मन्त्र मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि मानवाधिकार का सैद्धान्तिक पक्ष पर तत्कालीन ऋषियों ने भी चिन्तन किया है।ऋग्वेद की अपेक्षा यजुर्वेद में मानवाधिकार का अधिक विकसित रूप परिलक्षित होता है। यजुर्वेद कहता है कि–

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति । सर्व भूतेषुचात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभुद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥[27]

अर्थात् जब मनुष्य दूसरों के सुख को अपना सुख और दूसरों के दुःख को अपना दुःख समझता है जब वह सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति मान लेता है, जब वह सभी प्राणियों को आत्मवत् समझकर संसार में प्रवृत्त होता है, जब वह सभी जीवों में अपने–आप को देखता है तथा

Vol. 9 No. 1-2, March-Sep. 2018
ISSN : 0976-0237
UGC Approved Journal No. 40903

अपने–आप में सभी को देखता है तब उसमें किसी प्रकार का दुःख, शोक नहीं रह जाता। पुराण तथा महाभारत उक्त तथ्य को और अधिक व्यापक रूप में प्रस्तुत करते हुये कहता है कि प्रत्येक मनुष्य को दूसरों के साथ वह व्यवहार नहीं करना चाहिये जो उसे अपने लिए अपेक्षित न हो।"[28]यह भारतीयपरम्परा द्वारा दी गयी मानवाधिकार की परिभाषा है। उक्त तथ्य के आधार पर ही भारतीय परम्परा के मेरुदण्ड कहे जाने वाले 'वसुधैव कुटुम्बकम' और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की भावना का उदय हुआ। जॉन लॉक जो आधुनिक उदारवाद के जनक माने जाते हैं, उन्होंने उक्त मत के आधार पर ही उदारवाद की स्थापना की। उपर्युक्त मत का समर्थन करते हुए जॉन लॉक कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को दूसरों के साथ वही व्यवहार करना चाहिए जो वह अपने लिए अपेक्षा करता है।[29]यह उक्ति पूर्णतः वेद और महाभारत की उक्तियों की प्रतिकृति है। प्राणीमात्र में मैत्रीभाव के सन्निवेश का उद्घोष करते हुये यजुर्वेद कहता है कि "मित्रस्याहं सर्वाणि भूतानि समीक्षे"[30]। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षे" अर्थात् इस संसार में जितने भी प्राणी हैं सभी से मित्रतापूर्वक व्यवहार करना चाहिये तथा समय आने पर एक–दूसरे की सहायता करनी चाहिये।[31]उक्त वेद में पारस्परिक सौहार्द्र की भावना का प्राचुर्य है। प्रत्येक व्यक्ति को मैत्री, करुणा, मुदिता आदि से सन्नद्ध होकर लोक में व्यवहार करना चाहिये। सभी मनुष्यों को परस्पर उसी प्रकार प्रेम करना चाहिये जिस प्रकार गौ सद्यः जात अपने बछडे से करती है।[32]सभी के अधिकारों की रक्षा हेतु आत्मवत् भाव अत्यन्त कारगर सिद्ध होता है। यद्यपि पठन–पाठन का मुख्य कार्य ब्रह्मण करता था तथापि समाज के सभी वर्गों को वेदादि सत्य शास्त्रों को पढने का समान अधिकार था। सामवेद में भी मानवाधिकार की संकल्पना परिलक्षित होती है। [33]सामवेद कहता है कि मनुष्यों को अपने पडोसियों की उन्नति में सहायक होना चाहिये।[34]हमारी बुद्धि ऐसी होनी चाहिये कि जिससे जीवमात्र का कल्याण हो।[35]अर्थात् मन, वचन, कर्म से ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिये जिससे किसी का अहित होता हो।

अतः "मानवाधिकार का अभिप्राय मानव के उन सभी अधिकारों से है जो कि मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, भौतिक, सामाजिक एवं श्रेष्ठ जीवन यापन और विकास के लिये स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं, तथा मानव के सम्मान व गरिमा के साथ जीने के लिये अनिवार्य हैं। ऐसे अधिकार मनुष्य को जन्म से ही प्राप्त हाते हैं। इसलिये किसी भी समाज में इन दोनों ही पक्षों पर समान रूप से ध्यान दिया जाना चाहिये। प्राचीन समाज में अधिकार और कर्त्तव्य पारस्परिक समझौता था। कालान्तर में इसी समझौते ने ही धर्म का रूप ले लिया। इस समझौते के अनुपालन हेतु धर्म ही एकमात्र शासक बन गया। समाज का प्रतिनिधि राजा भी धर्म के अधीन होकर शासन का कार्यभार संभालता था। धर्मानुकूल आचरण करने वाला व्यक्ति समाज में श्रेष्ठ समझा जाता था। अधिकार और कर्त्तव्य दोनों ही धर्म शब्द में अनुस्यूत हैं। इस प्रकार धर्म शब्द केवल कर्त्तव्यों का ही नहीं अपितु अधिकारों का भी बोधक है। आत्म कल्याण हेतु समुचित वातावरण का निर्माण करना हमारा कर्त्तव्य और अधिकार दोनों ही है। प्रायः समाज में कर्त्तव्य की प्रधानता होती है परन्तु जहाँ कोई व्यक्ति अपने स्वार्थ आदि की प्रतिपूर्ति के लिये किसी को दुःख या हानि पहुँचाने की कोशिश करता है वहाँ अधिकार प्रधान हो जाता है। न्याय प्रक्रिया में अधिकार और कर्त्तव्यों का विशेष ध्यान रखा जाता था। प्राचीन भारतीय समाज में अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्य का प्राथम्य स्वीकारा गया है, क्योंकि कर्त्तव्य स्वकीयाश्रित होता है तथा अधिकार पराश्रित। प्रथमतया मनुष्य को आत्मनिरीक्षण

Vol. 9 No. 1-2, March-Sep. 2018
ISSN : 0976-0237
UGC Approved Journal No. 40903

करके अपना नैतिक विकास करना चाहिए तत्पश्चात् ही दूसरों के कर्त्तव्यों आदि पर ध्यान देना

सन्दर्भग्रन्थ सूची

1. अथर्ववेदः(शौनकीयः). भाष्यकार सायणाचार्यः. (सं.) विश्वबन्धुः. विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर : वि. सं. 2018.
2. अथर्ववेद का सुबोधभाष्य. दामोदर सातवलेकर. स्वाध्याय मण्डल, पारडी : 1985.
3. अथर्ववेदसंहिता (हिन्दी अनुवादः). हरिशरण सिद्धान्तालंकार. भगवती प्रकाशन. माडल टाउन, नई दिल्ली : 1994.
4. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन. कपिलदेव द्विवेदी. विश्वभारती अनुसंधान परिषद्, ज्ञानपुर(भदोही) : 2012.
5. अमरकोषः, अमर सिंह, (सम्पा०) हरगोविन्द शास्त्री. चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी : वि. सं. 2068
6. ऋग्वेदसंहिता, सायणभाष्य. वैदिक संशोधन मण्डल, पूना : 1972.
7. मनुस्मृतिः. मनुः. (सं) राजवीर शास्त्री. (अनु.) सुरेन्द्र कुमार. आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, नई दिल्ली जून 2000.
8. मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम. बसन्ती लाल बाबेल.सुबिधा ला हाउस, भोपाल : 1996.
9. मानवाधिकार का भारतीय परिवेश. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'. परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीतविहार दिल्ली : 2010.
10. मानवाधिकार के मूल आधार. प्रेम शंकर खरे. ग्राफिक आफसेट टैगोर टाउन, इलाहाबाद : 2001.
11. मानवाधिकार विधिया. श्रवण कुमार सैनी.राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर : 2013.
12. यजुर्वेद संहिता.(सं.) महर्षि देवराज. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी : 1970.
13. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति. बलदेव उपाध्याय. शारदा मन्दिर, वाराणसी : 1967.
14. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति. कपिलदेव द्विवेदी.विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी : 2010.
15. वैदिक सिद्धान्त मीमांसा. युधिष्ठिर मीमांसकः.श्रीमती सावित्रीदेवी बागाडीया ट्रस्ट, कलकत्ता : 1992.
16. सामवेद संहिता. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर. स्वाध्याय मण्डल, पारडी : 1939.

सन्दर्भग्रन्थ सूची

1. अथर्ववेदः(शौनकीयः). भाष्यकार सायणाचार्यः. (सं.) विश्वबन्धुः. विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर : वि. सं. 2018.
2. अथर्ववेद का सुबोधभाष्य. दामोदर सातवलेकर. स्वाध्याय मण्डल, पारडी : 1985.